ISSN 2348-3857

पुस्तक समीक्षा

संघर्षों में सौन्दर्य की खोज करती कविताएं

डॉ. जगदीश गिरी

सहायक आचार्य

हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर (राजस्थान)

कविता अपने समय का इतिहास है। बल्कि कहना चाहिए कि सच्चा इतिहास है। कविता सच को अभिव्यक्त करने का हौसला रखती है, भले समय कितना ही कठिन हो, क्रूर हो। सच कहने का सामर्थ्य ही उसे महत्त्वपूर्ण बनाता है। यही वजह है कि चाहे कविता की मौत के कितने ही नारे लगाए जाएं, उसकी बेचारगी और व्यर्थता के आख्यान रचे जाएं वह हर बार अपनी अपरिहार्यता का संदेश लेकर पुन: उठ खड़ी होती है। दरअसल कविता ही उन औजारों से लैस है जो काल की क्रूरता से टक्कर लेने के लिए जरूरी है। बस कवि के पास उन औजारों को काम लेने का कौशल होना चाहिए। कुशल कवि कविता के द्वारा वर्तमान से तो मुठभेड़ करता ही है, वह भविष्य के खतरों के प्रति आगाह भी करता चलता है। वरिष्ठ कवि निशान्त के विगत दिनों प्रकाशित काव्य संग्रह 'बात तो है जब' को पढ़ते हुए इसे निरंतर महसूस किया जा सकता है। निशान्त अपने आस-पास के प्रसंगों व बिम्बों के सहारे ऐसी कविताओं को रचते हैं जिनकी अनुगूंज बहुत दूर तक ध्वनित होती हुई व्यापक फलक पर विस्तार पाती हैं।

बाजारवाद और भूमंडलीकरण के दौर में जहां परम्परागत मूल्यों और चीजों के प्रति हिकारत का भाव विकसित होने लगा है, उपभोक्तावाद की आंधी में पारम्परिक जीवन शैली के पैर उखड़ते प्रतीत हो रहे हैं, ऐसे में कवि की चिंता उन मूल्यों को सहेजने को लेकर है। कवि जवानी में खिंचाई गई फोटो के बचे रह जाने को महज संयोग मानता है वरना 'बहुतायत की आंधी में' अनेक अच्छी चीजों की तरह वह भी उड़ जाती तो आश्चर्य ही क्या? किताबें, पत्रिकाएं, डायरियां, चिट्ठियां कुछ भी तो नहीं बचा। पर कवि इन निजी चीजों के बहाने बड़ा सवाल उठाता है कि ''मुझे लगता है/देश और देश के बाहर भी/दुहराई जा रही है। यह कहानी।''

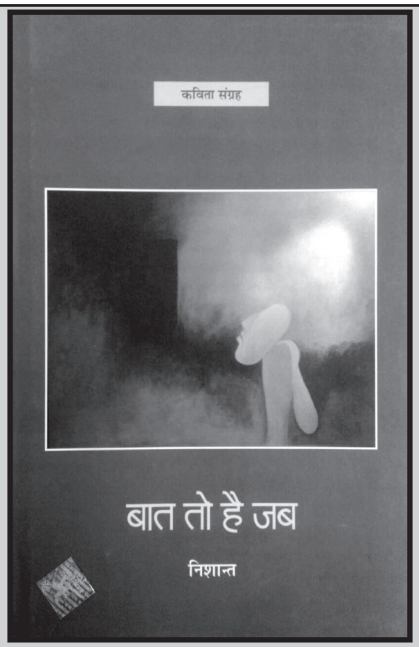

पुस्तक	:	बात तो है जब (काव्य संग्रह)
लेखक	:	निशांत
आई.एस.बी.एन.	:	978-93-82452-25-6
प्रकाशक	:	बोधि प्रकाशन, जयपुर
संस्करण	:	2012
मूल्य	:	75/- रुपये (पेपर बैक्स)

यह सवाल तब और महत्त्वपूर्ण हो जाता है जब केवल भौतिक चीजें ही नहीं हमारी सामाजिक संस्कृति, सर्वधर्म समभाव, और सह-अस्तित्व की सनातन परम्परा भी साम्प्रदायिक शक्तियों के हाथों नष्ट की जा रही है। पीढ़ियों से साथ-साथ रह रहे लोग एकदम

अजनबी हो जाते हैं। एक-दूसरे के दुश्मन हो जाते हैं। हमें गायों के रक्षक और भक्षक जैसे काल्पनिक वर्गों में बांट दिया जाता है। जबकि इस देश में गाय की उपयोगिता को सभी स्वीकार करते हैं। ग्रामीण भारत में गाय जीवन यापन का महत्त्वपूर्ण माध्यम है। चाहे हिन्दू हो या मुसलमान गायों के प्रति उनका लगाव जगजाहिर है, इसका कारण धार्मिक से कहीं अधिक आर्थिक है। ''मियों का गौ प्रेम'' कविता इस बात को बड़ी शिद्दत से उजागर करती है। कवि का मानना है कि आज कल गांवों में हिन्दुओं में भैंस पालन के प्रति लगाव बढ़ रहा है, जबकि मुसलमान आज भी गायों को कलेजे से लगाए देखे जा सकते हैं। गाय चाहे दूधारु हों अथवा हीणी (सूखी), वह उन्हें भार नहीं समझते- 'कहें इन मियों से कि/भाई, एक-आध गाय/ हमें भी दे जाओ/तो कहते हैं/नहीं, नहीं/बेचने के लिए नहीं है।' कवि का संदेश साफ है कि कुछ लोग गाय के नाम पर अपना स्वार्थ सिद्ध करना चाहते हैं, ऐसे लोगों से बचना जरूरी है। कवि निरंतर धर्म और जाति के आधार पर समाज को तोड़कर अपना हित साधन करने वाले लोगों से सावधान रहने की अपील करता है। ऐसे लोग कहीं और नहीं हमारे बीच ही है, हमारे जैसे ही हैं या कि हम ही हो सकते हैं। उस हत्यारेपन की पहचान किए बिना स्त्रियों, बच्चों और अल्पसंख्यकों की सुरक्षा खतरे में पड़ जाएगी (कविता: हत्यारे)। जाति और धर्म के कानफोड़ू शोर में खेतीहर रामरख की आवाज आश्वस्त करती है, एक उम्मीद जगाती है- ''मैं टोकता हूं उन्हें कि/मैं तुम्हारी जात का होकर भी/तुम्हारी जात का नहीं हूं।'' (एक आवाज)

कवि इस बुनियादी प्रश्न को उठाता है कि जब इस देश की अधिकतर जनता गरीबी, बेरोजगारी, भुखमरी से जूझ रही है तो रोटी का सवाल सबसे प्राथमिक होना चाहिए परंतु हैरानी है कि वे मामूली से ठग लोगों को झूठ के जाल में फंसाकर अपना उल्लू सीधा कर रहे हैं। उसे लगता है- 'ज्ञान के विस्फोटक समय में/ खत्म हो जाना चाहिए था/हर तरह का झूठ/लेकिन इसका जादू तो/लोगों के सर चढ़कर/बोल रहा है।' (इस जमाने में)। देश की वर्तमान शिक्षा प्रणाली, राजनीतिक भ्रष्टाचार, पर्यावरण की समस्या और सर्वहारा की चिंता को लेकर इस संग्रह में अनेक कविताएं हैं। 'काम पर जा रहे लोग', 'थोड़े से सफर में भी', 'खेल की तरह', 'जगह और जगह', 'रखवाला', 'चिंताएं कहां नहीं', 'मेरे मुहल्ले की स्त्रियां', 'जीवन के स्तर' जैसी कविताएं इसी चिंता से उपजी हैं।

सर्वहारा की समस्याओं पर सोचते हुए कवि अपने ढंग से इनका समाधान भी सुझाता है। उसे लगता है कि इन सभी समस्याओं के मूल में अशिक्षा है। युगों से वंचित वर्गों को शिक्षा से दूर रखा गया है जो उनकी दुर्वस्था का कारण है। 'तुम पढ़ो' कविता में आह्वान है कि-

तुम पढ़ो
क्योंकि तुम्हारे शोषक
नहीं चाहते तुम पढ़ो
तुम पढ़ो
क्योंकि ढोंगी नहीं चाहते
तुम पढ़ो।

संग्रह की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कविता, जिसे कवि ने पुस्तक के शीर्षक के रूप में भी चुना है और फ्लैप पर भी, निश्चय ही गत दो वर्षों से भारत की आबो-हवा में गूंज रहे चुनावी वादों, नारों और भाषणों-रैलियों की परिणति हैं। भारत में लोकतांत्रिक प्रणाली के त्रिस्तरीय पंचायती मॉड़ल और संसदीय प्रणाली से निरंतर चुनावी माहौल बना ही रहता है। ऐसा लगता है कि हमारे यहां चुनाव वर्षभर चलने वाली प्रक्रिया है। रही-सही कसर 24 घंटे चलने वाले खबरिया चैनलों ने पूरी कर दी। यदि चुनाव नहीं भी हो रहे हों तो भी इन चैनलों के द्वारा ऐसी खबरें गढ़ ली जाती हैं। यह देखकर एक साधारण संवेदनशील नागरिक के मन में भी चुनाव लड़ने की इच्छा हो जाना अस्वाभाविक नहीं है। परंतु केवल इच्छा मात्र से क्या कोई चुनाव लड़ सकता है? साधारण से प्रसंग द्वारा कवि ने पूरी राजनीतिक प्रणाली को कठघरे में खड़ा कर दिया है। संविधान भले ही प्रत्येक वयस्क भारतीय नागरिक को चुनाव लड़ने को अधिकार देता है, पर व्यवहार में आम आदमी स्वयं को कहां पाता है। उम्मीद्वारों को पर्चा भरते देखकर उसकी इच्छा तुरंत कमजोर पड़ जाती है जब देखता है-

'अचम्भा-सा हुआ मुझे
कि क्या ये हैं
अपने ही इलाके के आदमी?
सुना-समझा तो यही था कि
लोगों की कठिनाइयां हैं बड़ी
फिर ये कहां से आ गए
इतनी लाली वाले लोग।

जाहिर है चुनाव लड़ने वाले लोग साधारण इंसान जैसे लगते ही नहीं है। उनके चेहरे की लाली और चमक उन्हें किसी दूसरी ही दुनिया का प्राणी बना देते हैं। एक गरीब के चेहरे पर वह चमक कैसे आ सकती है? वह सोचता है कि काश! मेरे पास भी धन-दौलत होती

तो मैं ऐसा कर पाता, यद्यपि वह अपनी इस सोच के लिए स्वयं को धिक्कारता भी है, क्योंकि संघर्ष करने का आनंद तो तब है जब-

मैं जैसा भी हूं/लड़ूं

राजनेता इस महादेश की काया-पलट करने की बड़ी-बड़ी बातें तो करते हुए नजर आते हैं, पर हकीकत इससे कोसों दूर है। चुनाव जीतने वाले और हारने वालों की नजर सिर्फ कुर्सी पर रहती है। बिजली, पानी, महंगाई, बेरोजगारी आदि की समस्या से जूझती जनता की बात न तो सरकार सुनती है, न ही विपक्ष। विपक्षी दल भी समस्याओं के समाधान की बजाय अपनी राजनीति चमकाते हैं- 'फिर भी विपक्ष ने/संकल्प लिया/सिर्फ/सत्तारूढ़ दल को/उखाड़ने का।' समाधान की जगह देश की जनता पर चुनाव थोप दिया जाता है। चुनाव में भी तरह-तरह के हथकंड़े अपनाए जाते हैं, दंगे-फसाद, बयानबाजी और हिंसा के बीच संसद में फिर वही चेहरे पहुंच जाते हैं। हिंसा में मरने वालों को सहायता के नाम पर खानापूर्ति की जाती है- 'देकर एक चैक का टुकड़ा/लोग इसे/जनतंत्र की विजय कहेंगे।' ऐसे घोर संकट काल में जब कहीं उम्मीद नजर नहीं आती तो कवि पुन: श्रमजीवियों के बीच पहुंच कर राहत महसूस करता है। यह मेहनतकश वर्ग भले ही राजनीति में नगण्य है, पर जीवन का असली संगीत वहीं सुना जा सकता है- 'आओ संगीत सुनें/झाड़ू का संगीत सुनें/बिलौने का संगीत सुनें/धुलते कपड़ों की/थप! थप! का/कुत्तर करते/टोके की/कट! कट! का/खाती की ठक! ठक! का।'

असल में यह संग्रह इन्हीं दो विपरीत बिन्दुओं के मध्य ही रचा गया है। एक ओर मेहनतकश वर्ग है जो तमाम उठापटक से दूर कर्मरत रहता है। देश के निर्माण में योगदान करते हुए भी वह इस दंभ से मुक्त है, वह सोचता तक नहीं कि वह कोई बड़ा काम कर रहा है परंतु दूसरी ओर केवल गाल बजाने वाले, टीवी पर छाए रहने वाले, एयरकंड़ीशंड कारों व घरों में रहने वाले लोग हैं जो केवल 'भारत रत्न', पद्मभूषण पर ही आंख रखते हैं। असली भारत-निर्माण में उनका योगदान शून्य ही नहीं वरन् नकारात्मक है।

इन दिनों विकास और ग्लोबलाइजेशन के नारों के बीच 'ग्लोबल वार्मिंग' की भी बड़ी चर्चा है। धुआं देखते ही लोग इसी की चर्चा करते हैं, परंतु यही किसी गरीब के घर दिखता है तो कवि को संतोष होता है क्योंकि- 'धुआं उठ रहा है/तो लगता है/घर में कुछ रंध रहा है/दाल-भात/उत्सव के लिए कोई पकवान/या पशुओं के लिए चाटा-बांटा।' निशांत छोटी-छोटी कविताओं के द्वारा भी बड़ी बात कहने की क्षमता रखते हैं। भाव और कलातत्व उनकी कविताओं में एकमेक हो जाते हैं। इन कविताओं को पढ़ते हुए साहित्यशास्त्रीय मानदंडों की ओर दृष्टि तक नहीं जाती। सच में, ये कविताएं जीवन-संघर्षों से उद्भूत, जीवन-संघर्षों में सौन्दर्य खोजने की कोशिश से उपजी कविताएं हैं। इनमें कवि का संवेदनशील हृदय धड़कता हुआ प्रतीक होता है, जो निहायत निजी अनुभवों को लेकर भी सहज और सर्वजन की अनुभूति कराता है।